



## आलोचना में विचारधारा और राजनीति की भूमिका

कविता उपाध्याय (शोधार्थी)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

दिल्ली, भारत

### शोध संक्षेप

साहित्य जीवन की व्याख्या है तो निश्चित रूप से आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है। आलोचना का दायित्व है रचना के अर्थ की खोज और उसकी सार्थकता की पहचान। यदि रचना का अर्थ रचनानिष्ठ होता है और उसकी सार्थकता समाज सापेक्ष। आलोचना रचना के मूल्यांकन के समय उसके संवेदनात्मक उद्देश्य तथा विचारधारात्मक अभिप्राय की व्याख्या करती हुई इसकी सार्थकता की पहचान करती है। सम्पूर्ण आलोचनाक्रम या आलोचनात्मक संघर्ष में विचारधारा की महत्वपूर्ण स्थिति होती है। यहाँ विचारधारागत अंतर प्रकारांतर से आलोचक की राजनीतिक दृष्टि से भी संबद्ध होती है। प्रस्तुत शोध पत्र में आलोचना में विचारधारा और राजनीति की भूमिका पर विचार किया गया है।

### प्रस्तावना

“एक कला सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि हुआ करती है उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है और उस जीवन दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।”<sup>1</sup>

मुक्तिबोध का यह कथन जितना सत्य कला सिद्धांत के बारे में है, उतना ही सत्य आलोचना कर्म के बारे में भी है। वास्तव में साहित्य जीवन की व्याख्या है तो निश्चित रूप से आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है। आलोचना का दायित्व है रचना के अर्थ की खोज और उसकी सार्थकता की पहचान। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रचना का अर्थ रचनानिष्ठ होता है और उसकी सार्थकता समाज सापेक्ष। आलोचना रचना का विश्लेषण करती हुई उसकी संकल्पनाएँ भाषिक प्रयोग, बनावट एवं बुनावट आदि को स्पष्ट करती है और कृति के अर्थ की खोज करती है। इसके बाद आलोचना रचना के मूल्यांकन के

समय उसके संवेदनात्मक उद्देश्य तथा विचारधारात्मक अभिप्राय की व्याख्या करती हुई इसकी सार्थकता की पहचान करती है। इसी क्रम में आलोचना अपने कलात्मक विवेक तथा ऐतिहासिक-सामाजिक विवेक दोनों के प्रति एक सचेत दृष्टि रखती है। कहना न होगा कि सम्पूर्ण आलोचनाक्रम या आलोचनात्मक संघर्ष में विचारधारा की महत्वपूर्ण स्थिति होती है। बौद्धों की भाषा में कहें तो दृष्टि अर्थात् दृष्टि या दृष्टिकोण यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है। बात जब दृष्टिकोण तथा विचारधारा तक पहुँच रही हो तब एक आलोचक से विचारधारात्मक पक्षधरता की भी माँग अपेक्षित होती है। और विचारधारात्मक पक्षधरता निश्चित रूप से आलोचक की राजनैतिक दृष्टि से संबंधित होती है।

वस्तुतः कोई भी विचारधारा चाहे वह रचनाकार की हो या आलोचक की, विचारों की धारा या सिद्धांतों का समुच्चय मात्र नहीं होती उसमें विचार, आस्था, विश्वास और मूल्य चेतना का भी



योग होता है। वह एक विशेष ऐतिहासिक सन्दर्भ में बनी सामाजिक चेतना है, उस चेतना की गतिविधियों की संघटना है, उसमें चेतना को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता भी होती है। एक विचारधारा में अपने समय के यथार्थ से काल्पनिक संबंध व्यक्त होते हैं तो दूसरी में यथार्थ से वास्तविक संबंध भी।<sup>2</sup>

कृति में विचारधारा का प्रश्न

जब किसी कृति की विचारधारा का प्रश्न सामने आता है तो निश्चित रूप से यह बात महत्वपूर्ण हो उठती है कि कृति में विचारधारा जितने प्रच्छन्न या छिपे हुए रूप में अवस्थित हो कृति के लिए उतना ही अच्छा है। कृति की साहित्यिकता के लिए विचारधारा उसके स्थापत्य में जितना अधिक घुली-मिली होगी कृति की साहित्यिकता उतनी ही श्रेष्ठ होगी। जानात्मक संवेदन तथा संवेदनात्मक ज्ञान के बीच कम से कम दूरी रचना के लिए महत्वपूर्ण है। किन्तु आलोचना के सन्दर्भ में ऐसा नहीं है। आलोचना का चरित्र मुख्यतः विचारधारात्मक होता है। रचना का वर्गीय चरित्र उतना प्रच्छन्न नहीं होता। जीवंत आलोचना में अपने समय के समाज के विचारधारात्मक संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है। आलोचना की विचारधारात्मक अंतर्वस्तु और आलोचक के विचारधारात्मक दृष्टिकोण से आलोचना का स्वरूप निर्धारित होता है। आलोचना विचारधारात्मक संघर्ष का भी एक प्रमुख माध्यम है। उदाहरण के लिए वर्तमान समय में स्त्री विमर्श तथा दलित विमर्श मात्र साहित्यालोचना के दृष्टिकोण से ही नहीं हैं वरन अपने अस्तित्व की मुक्तिधर्मी चेतना से संचालित एक सतत विचारधारात्मक आलोचनात्मक संघर्ष है। एडवर्ड सैड के शब्दों में कहें तो "सत्ता के सामने सच कहने का साहस"

है। सत्ता विमर्श की वर्चस्ववादी विचारधारा के विरुद्ध मुक्तिकामी विचारों का विद्रोह है। इसके पीछे स्पष्ट राजनीतिक प्रयोजन भी है वह है 'अस्मिता की राजनीति।' इसी सन्दर्भ में दलित साहित्य आज की दलित राजनीति से भी जुड़ा है।

यथार्थबोध और कलात्मक श्रेष्ठता

आलोचना रचनाकार की विचारधारा और राजनीतिक दृष्टि को केन्द्र में रखते हुए भी रचना के यथार्थबोध और कलात्मक श्रेष्ठता की अवहेलना नहीं करती है। मार्क्स-एंगेल्स ने बाल्जाक की तथा लेनिन ने टालस्टाय की व्याख्या करते हुए इन रचनाकारों की विचारधारा गलत होने के बावजूद उनके रचनात्मक सामर्थ्य और यथार्थबोध की प्रशंसा की है। यह सच है कि रचनाकार की राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना में व्यक्त राजनैतिक दृष्टि है। लेनिन ने टालस्टाय का जो विश्लेषण किया उससे यह स्पष्ट है कि टालस्टाय की राजनैतिक दृष्टि सही न होने पर भी रचनाओं में व्यक्त यथार्थबोध की यह विशेषता है कि सर्वहारा वर्ग अपने शत्रुओं को पहचान सकता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार के रूप में टालस्टाय की दृष्टि भले गलत हो किन्तु आलोचना के रूप में लेनिन की राजनैतिक दृष्टि सही थी और आलोचक से यह अपेक्षित भी है। आलोचक के लिए उसकी स्वयं की राजनैतिक दृष्टि महत्वपूर्ण है तभी वह विचारधारात्मक पक्ष ग्रहण कर सकता है। यहाँ विचारधारात्मक पक्षधरता नहीं वरन विचारधारात्मक पक्ष महत्वपूर्ण है।

वाल्टर बेंजामिन आलोचना के सन्दर्भ में लिखते हैं: "किसी कृति की भीतरी दुनिया को देखने का अर्थ है उन तरीकों का हवाला देना जहाँ कलाकृति का सत्य और भौतिक दुनिया का सत्य एक-दूसरे



में प्रवेश करते हैं।<sup>3</sup> यहाँ कलाकृति का सत्य यदि रचना का पाठ है तो भौतिक दुनिया का सत्य विचारधारा और राजनीति है। वस्तुतः आलोचना, विचारधारा तथा राजनीति का संबंध बड़ा ही द्वंद्वात्मक है। ऊपर से देखने पर यह कार्य-कारण संबंध जैसा प्रतीत होता है, किन्तु यह मात्र यही नहीं है। यह संबंध बिलकुल वैसा है जैसे प्रकृति तथा मनुष्य समाज के विभिन्न निकटस्थ अव्ययों और व्यक्तियों के बीच होता है। दर्शन के शब्दों में कहें तो जैसा प्रकृति और प्रारूप के बीच होता है यह संबंध न तो एक तरफ़ा है, न तो आदेशात्मक, न ही स्थिर। आलोचक तथा रचनाकार के व्यक्तित्व के समानांतर इसमें परिवर्तित होता रहता है। यदि हिंदी आलोचना में सक्रीय विभिन्न आलोचना दृष्टियों की विचारधारात्मक स्थिति पर विचार किया जाये तो यह देखा जा सकता है कि आलोचना दृष्टि में भिन्नता और संघर्ष सामाजिक स्तर पर व्याप्त विचारधारात्मक तथा राजनीतिक भिन्नता एवं संघर्ष के अनुरूप है विचारधारा तथा राजनीति के प्रति सजग तथा सचेत आलोचक भी है और उससे बेखबर आलोचक भी है। यह विचारधारा का ही अंतर है कि जो प्रेमचंद किसान-जीवन के महत्वपूर्ण लेखक हैं वही प्रेमचंद रामविलास शर्मा के लिए राष्ट्रीय-स्वाधीनता आंदोलन के महान कथाकार हैं, तो दलित आलोचक धर्मवीर के लिए 'सामंत का मुंशी' हैं। यह विचारधारा का ही परिणाम है कि जिन तुलसीदास की रचनाओं में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लोकमंगल लोकमर्यादा तथा अपार समन्वय की भावना को देखते हैं, उन्हीं तुलसीदास की रचनाओं में रामविलास शर्मा सामंत-विरोधी मूल्य खोजते हैं और दलित आलोचक एक संकीर्ण ब्राह्मणवादी सामंती दृष्टि

को रेखांकित करते हैं। कहना न होगा कि यहाँ विचारधारागत अंतर प्रकारांतर से आलोचक की राजनीतिक दृष्टि से भी संबद्ध है। आचार्य शुक्ल के केन्द्र में रस-चिंतन है तो रामविलास शर्मा के केन्द्र में मार्क्सवाद और दलित आलोचक के केन्द्र में अम्बेडकरवादी चिंतन है।

आलोचना का बौद्धिक स्वरूप

डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, "आलोचना अपने समय की बौद्धिकता की उपस्थिति है।"<sup>4</sup> यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यह आलोचकीय बौद्धिकता का स्वरूप क्या होगा और यह किन वर्गीय हितों को पुष्ट करेगी, वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर किसी आलोचक की विचारधारा और राजनीतिक दृष्टि के आधार पर ही दिया जा सकता है। आलोचना के सन्दर्भ में यह विचारधारा या तो वर्चस्ववादी सत्ता विमर्श की होगी या तो मुक्तिधर्मी जनवादी। जिनके राजनीतिक आधार भी क्रमशः अलग-अलग होंगे। एक के केन्द्र में सामंतवाद या पूँजीवाद तो क्रमशः दूसरे के केन्द्र में मार्क्सवाद। यह आलोचकीय विवेक पर भी निर्भर करता है कि वह किधर है। होना तो यही चाहिए कि एक आलोचक अपने समाज की वर्चस्ववादी विमर्श की काल्पनिक सहमति की छद्म चेतना की निर्मम आलोचना करे। आलोचना के केन्द्र में मनुष्य की सामाजिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक मुक्ति का प्रश्न भी महत्वपूर्ण होता है इन्हीं अर्थों में आलोचना मुक्तिधर्मी बनती है। वस्तुतः आलोचना की विचारधारात्मक तथा राजनीतिक परिणति ही आलोचना को अकादमिक आलोचना की शास्त्रीय तथा आत्ममुग्धता से बचाकर मुक्तिबोध के शब्दों में 'सभ्यता-समीक्षा' बनाती है। मुक्तिबोध जब 'सभ्यता-समीक्षा' के लिए सत-चित-आनंद की जगह सत-चित-वेदना का



बोध आवश्यक मानते हैं, तो इसके पीछे भी एक विचारधारा तथा राजनीति काम कर रही होती है। विचारधारा इन अर्थों में कि सत-चित-वेदना का बोध सत्ता द्वारा शोषित तथा हाशिए पर स्थित समाज के प्रति एक संवेदनशीलता का बोध है और राजनीति इन अर्थों में कि यह संवेदनशीलता का विरोध पूँजीवाद का विरोध करता है। जिसका वैचारिक आधार मार्क्सवाद है। विचारधारात्मक पक्षधरता से ही आलोचना एक ओर आलोचक के वैचारिक आत्मसंघर्ष का माध्यम बनती है तो दूसरी ओर विचारधारात्मक संघर्ष का साधन भी। इसी क्रम में वह व्यापक राजनीतिक.सामाजिक.सांस्कृतिक संघर्ष का साधन भी बन जाती है। इसी सन्दर्भ में आलोचना की संस्कृति तथा संस्कृति की आलोचना को समझा जा सकता है। इसे हम एक उदाहरण के द्वारा आसानी से समझ सकते हैं। मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में नई कविता के प्रगतिविरोधी दृष्टिकोण की आलोचना की है। मुक्तिबोध इसी क्रम में लघु मानववाद, व्यक्तिवाद, कलावाद, क्षणवाद तथा इतिहास एवं परम्परा से मुक्ति आदि प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं। इसी सन्दर्भ में वे इन प्रवृत्तियों के राजनीतिक-सामाजिक आधार को भी यहाँ स्पष्ट करते हैं। वे उन्हें शीतयुद्ध की हासमान राजनीतिक प्रवृत्तियों से जोड़ते हैं। वस्तुतः मुक्तिबोध की इस आलोचना दृष्टि के पीछे भी एक विचारधारा तथा राजनीति प्रेरक रूप में उपस्थित है। सामाजिक प्रतिबद्धता, मार्क्सवादी.चिंतन तथा समष्टि-हित ही यह प्रेरणा स्रोत है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'प्रच्छन्नता के उद्घाटन' को कवि कर्म का मुख्य ध्येय मानते थे। आलोचना का कर्म भी यही है। सभ्यता अपने

प्रच्छन्न आवरण में सब कुछ समेटती चलती है, इसी विकृति को खोलना आलोचना का कर्म है। इस उद्देश्य में उसे विचारधारात्मक तथा राजनीतिक रूप से पूर्वाग्रही होना जरूरी है। "पूर्वाग्रह रहित दृष्टिकोण से की गई ईमानदार आलोचना बेस्वाद तथा सत्वहीन होगी। किसी भी आलोचनात्मक कर्म के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह किसी ठोस नक्शे पर आधारित है या नहीं यानी उसकी कोई कार्यनीति है या नहीं जिसका अपना तर्क हो, अथवा ईमान हो। आलोचना का कर्म विशेषकर आज शुद्ध कला के नकाब को उठाना है और दिखाना है कि कला के लिए कोई तटस्थ भूमि नहीं होती।"<sup>5</sup>

आलोचना और राजनीति

वस्तुतः जो आलोचक अपनी राजनीति छुपाते हैं उनकी आलोचना में भी राजनीति किसी न किसी रूप से आ जाती है। रचना में राजनीति छिपकर आ सकती है किन्तु आलोचना में उसे साफ तौर पर आना चाहिए। जिन रचनाकारों के बारे में प्रायः यह समझा जाता है कि उनका राजनीति से कोई संबंध नहीं, उनके यहाँ भी राजनीति कविता में प्रकट हो जाती है। सूरदास इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। 'हरि हैं राजनीति पढ़ आए' जैसे पद में सूरदास ने अपने समय की राजनीतिक विडंबना पर गहरा व्यंग्य किया है। आधुनिक काल में साहित्य तथा जीवन दोनों ही अधिक राजनीतिक हुआ है। ऐसे में आलोचना कर्म में राजनीति का दखल स्वाभाविक है। नाटककार ब्रेख्त ने भी कहा है 'यथार्थवाद केवल कला तथा साहित्य से संबंधित दृष्टिकोण नहीं है वह एक राजनीतिक दृष्टि भी है।' राजनीति से आलोचना के संबंध की विविधता तथा जटिलता को समझने के लिए साहित्य को राजनीतिक दृष्टि से पढ़ने



के कुछ उदाहरण देखना उपयोगी है। मुक्तिबोध की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

“ओ मेरे आदर्शवादी मन ओ मेरे सिद्धांतवादी मन अब तक क्या किया जीवन क्या जिया !!

बहुत-बहुत ज्यादा लिया दिया बहुत-बहुत कम मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम !!”<sup>6</sup>,  
'अंधेरे में

मुक्तिबोध की उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ मध्यवर्ग के यथास्थितिवादी दृष्टिकोण तथा वर्गीय विडंबना पर गहरा व्यंग्य है। मध्यवर्ग की आलोचना के क्रम में मार्क्सवादियों ने इन पंक्तियों का व्यापक उपयोग किया है। एक अन्य उदाहरण प्रेमचंद के उपन्यास प्रेमाश्रम का लेते हैं। इस उपन्यास के आधार पर गांधीवादी दृष्टि से प्रभावित आलोचक प्रेमचंद को गांधीवादी सिद्ध करते हैं तो मार्क्सवादी आलोचक प्रेमचंद को मार्क्सवादी। उपन्यास के कथानक में दोनों वादों की संभावना है किन्तु आलोचना के क्रम में आलोचक की विचारधारात्मक पक्षधरता तथा राजनीतिक दृष्टि उसके आलोचनात्मक विवेक को प्रभावित करती है। वस्तुतः किसी भी रचना का कथ्य ही नहीं वरन शिल्प भी विचारधारात्मक होता है। विशेष रूप से भाषा। मुक्तिबोध 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखते हैं “भाषा एक सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे अर्थ परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभव से जुड़े हुए हैं।”<sup>7</sup> अर्थात् भाषा भी पूर्णतः निरपेक्ष नहीं होती। इसीलिए डॉ. नामवर सिंह कहते हैं रचना की ही नहीं स्वयं आलोचना की भाषा अगर वह रेटोरिक है तो आइडियोलॉजिकल है, विचारधारात्मक है और संदिग्ध है।<sup>8</sup> यदि भक्तिकालीन कवियों की देखें तो उनके द्वारा अपनी जनपदीय भाषा का प्रयोग वस्तुतः सामंती समाज की संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह था। स्थानीय या मातृभाषाओं का प्रयोग

एक विचारधारात्मक संघर्ष भी था और मुक्ति की आकांक्षा भी। आधुनिक कवि केदारनाथ सिंह की मौसम कविता की भाषा स्वयं में राजनीतिक सामाजिक आवरण तैयार करती है।

“पर मौसम चाहे जितना खराब हो

उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएँ।” ‘मौसम’

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आलोचना को राजनीतिक चेतना से सम्पन्न बनाने का अर्थ साहित्य-सृजन तथा मूल्यांकन में राजनीतिक संघर्ष की रणनीति और कार्यनीति का अमल नहीं है। और न ही पार्टीबद्ध राजनीति फतवेबाजी या झण्डेबाजी है। राजनीतिक पक्षधरता हो परन्तु संकीर्ण राजनीतिक पक्षपात न हो। अन्यथा आलोचना मात्र राजनीतिक पार्टियों का 'मेनिफेस्टो' घोषणापत्र मात्र रह जाएगी। मार्क्सवादी आलोचना के संदर्भ में प्रायः यह आरोप लगाया जाता है।

साहित्य या आलोचना में इस प्रकार के पार्टीबद्ध राजनीतिक हस्तक्षेप की आलोचना करते हुए अंतोनियो ग्राम्सी ने लिखा है “राजनीतिज्ञ कला में अपने समय की एक निश्चित सांस्कृतिक दुनिया के निर्माण के लिए दबाव डालते हैं, यह कलात्मक आलोचना नहीं बल्कि एक राजनीतिक कार्य है। जिस सांस्कृतिक दुनिया के लिए हम संघर्ष कर रहे हैं, वह यदि जीवन्त तथा बाध्य करनेवाली वास्तविकता होगी तो उसका कलात्मक प्रतिफलन दुर्निवार होगा वह अपने कलाकार स्वयं ही ढूँढ लेगी। किन्तु यदि राजनीतिक दबाव के बावजूद वह अपने कलाकार नहीं ढूँढ पाती तो इसका साफ मतलब है कि हम एक कल्पित और कागजी सांस्कृतिक दुनिया के लिए आग्रह कर रहे हैं।”<sup>9</sup> आलोचना के प्रति जिम्मेदार मार्क्सवादी राजनीतिक कर्मी का रुख ऐसा ही रचनात्मक होता है।



आज के उत्तर आधुनिक दौर में जहां लेखक का अंत (रोला बार्थ), विचारधारा का अंत (डेनियल बैल), इतिहास का अन्त जैसी घोषणाएं अंतहीन हो चली हैं। और रचना या साहित्य की मुक्ति के नाम पर आलोचना की भी स्वायत्ता की बात की जा रही है। आलोचना का एक नया दौर प्रारंभ हुआ है। पाठ केंद्रित आलोचना। देरिदा के अनुसार सबकुछ अंततः पाठ ही है। अर्थ अनंत स्थगन में है। ऐसे संकट के समय में आलोचना में विचारधारा तथा राजनीति की भूमिका को पुनः परिभाषित किये जाने की जरूरत है। वस्तुतः उत्तर आधुनिकता विकृत पूंजीवाद का ही सांस्कृतिक तर्क है, जो कृति की आलोचना की विचारधारा तथा राजनीति से निषेध करने पर बल देता है। वस्तुतः इस विचारधारात्मक नकार के पीछे भी एक विचारधारा है। एक राजनीति है। वह है साहित्य और आलोचना के जनवादी तथा मुक्तिधर्मी स्वरूप को नष्ट करने की विचारधारा। इसके पहले भी रूपवाद, संरचनावाद, नई समीक्षा तथा उत्तर संरचनावाद के नाम पर यह कोशिशें की जा चुकी हैं। वस्तुतः आलोचना क्रम में विचारधारात्मक पक्षधरता तथा सतर्क राजनीतिक दृष्टि ही इन कोशिशों को रोक सकती है।

आलोचना रचना में व्यक्त और अव्यक्त मूल्यों तथा विश्वासों की व्याख्या करती है, साथ ही वह सामाजिक जीवन में मौजूद और रचना में व्यक्त शक्ति संबंधों की भी पहचान करती है। इस तरह आलोचना एक विचारधारात्मक गतिविधि होती है, जिसके पीछे राजनीतिक सक्रियता होती है और होनी भी चाहिए। 'कामायनी' छायावाद की प्रतिनिधि रचना है और वह इस अर्थ में भी महत्वपूर्ण है कि वह अपने लेखक की विचारधारा का अतिक्रमण कर जाती है। इसी कामायनी की आलोचना नन्ददुलारे वाजपेयी रसवादी दृष्टि से

करते हैं और कामायनी के आध्यात्मवाद, आनंदवाद, रहस्यवाद तथा श्रद्धावाद का समर्थन करते दिखलाई पड़ते हैं। वहीं मुक्तिबोध इसी कामायनी के विवेचन में समाजशास्त्रीय पद्धति का सहारा लेते हुए वर्गीय दृष्टि से कामायनी की व्याख्या करते हैं और कामायनी के व्यक्तिवाद, श्रद्धावाद, आनंदवाद, रहस्यवाद का खंडन करते हैं। यह वस्तुतः आलोचना के सन्दर्भ में दो जीवन दृष्टियाँ, दो विचारधाराओं और दो राजनीतिक दृष्टियों का अंतर है।

## निष्कर्ष

अतः यह महत्वपूर्ण बात है कि आलोचनात्मक कर्म विचारधारात्मक आग्रहों से मुक्त नहीं हो सकता। एक आलोचक के लिए पोलिटिकस बहुत आवश्यक है और एक पोलिटिकल आलोचना के लिए राजनीतिक दृष्टि बहुत आवश्यक है। वाल्टर बेंजामिन का मानना है कि बौद्धिक सिद्धांत जितने अधिक असंदिग्ध होंगे उसकी सक्रियता का दायरा उतना ही अधिक बड़ा होगा और अधिक जनता उसके आसपास होगी।<sup>10</sup> यदि आलोचना भी अपने समय की बौद्धिकता की उपस्थिति है तो निश्चित रूप से उसे भी असंदिग्ध होना चाहिए और इस असंदिग्धता के लिए आलोचना में विचारधारा तथा राजनीति की भूमिका या कहें कि अनिवार्य तथा सचेत भूमिका स्वीकार करनी होगी।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 नयी कविता का आत्मसंघर्ष, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन. 2007, पृष्ठ संख्या 45
- 2 शब्द और कर्म, मैनेजर पांडेय, वाणी प्रकाशन, 1997, पृष्ठ संख्या 13
- 3 नकली आलोचना, वाल्टर बेंजामिन, अनुवादक : अमिताभ मिश्र, संकलित, पहल 69, पृष्ठ संख्या 62



- 4 आलोचना की सामाजिकता, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, 2005, पृष्ठ संख्या 17
- 5 साहित्य आलोचना का कार्यक्रम, वाल्टर बेंजामिन, अनुवादक: अरुण कमल, संकलित पहल 69, पृष्ठ संख्या 64-65
- 6 प्रतिनिधि कविताएँ, मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, 2007, पृष्ठ संख्या 141, अँधेरे मेंद
- 7 एक साहित्यिक की डायरी, मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, 2002, पृष्ठ संख्या 38
- 8 मंगलाचरण (भाषण), डॉ. नामवर सिंह प्रकाशित साक्षात्कार, सम्पादक: ध्रुव शुक्ल नवंबर-दिसंबर 1995, पृष्ठ संख्या 71
- 9 प्रगतिशील साहित्यधारा में अंधलोकवादी रुझान, डॉ. नामवर सिंह नामवर संचयिता, संपादक: नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन. 2003 (लेख से उद्धृत) पृष्ठ संख्या 41
- 10 सफलता के तेरह सूत्र, वाल्टर बेंजामिन, अनुवादक अमिताभ मिश्र, संकलित पहल 69, पृष्ठ संख्या 55